विद्यालयी शिक्षा का समकालीन परिप्रेक्ष्य

ऋषभ कुमार मिश्र*

इस लेख में भारतीय समाज के संदर्भ में शिक्षा और विद्यालय की भूमिका पर मनन व्यक्त किया गया है। लेख का आरंभ विद्यालय के बदलते संस्थागत स्वरूप पर चर्चा के साथ होता है। तदुपरांत विश्लेषित किया गया है कि विद्यालय अपने कलेवर को बदलने के बावजूद अपने क्रियाकरण में आज भी समाज से अलगाव को बनाए हुए हैं। यह अलगाव केवल विद्यार्थी के अनुभवों को नज़रअंदाज नहीं करता, बल्कि विद्यालय के अन्य हितधारकों, जैसे — अभिभावकों और शिक्षकों की विश्वदृष्टि को भी प्रभावित करता है। इस प्रभाव की व्याख्या लेख के अगले हिस्से में समाज के लिए शिक्षा की भूमिकाओं के सापेक्ष की गई है। इस लेख में लेखक द्वारा विश्लेषित किया गया है कि कैसे शिक्षा की सामाजिक प्रस्तुति शिक्षा के लक्ष्यों को सीमित करने का कार्य करती है?

विद्यालयी शिक्षा व्यवस्था में विद्यालयों की प्रकृति 'सरकारी' से लेकर 'इण्टरनेशनल' तक अपने अनेक कलेवर के साथ हमारी ज़रूरत बन गए हैं। बच्चे के छह वर्ष की उम्र के आस-पास पहुँचते ही अभिभावक के जीवन में एक बार पुनः विद्यालय का पदार्पण इस सवाल के साथ होता है कि बच्चे को किस विद्यालय में प्रवेश दिलाएँ? अभिभावक की इस चिंता का मूल उसके दिमाग में घर कर बैठा वह विश्वास है जिसके अनुसार ज्ञान का औज़ार केवल विद्यालय की प्रयोगशाला में ही तैयार होता है। शिक्षा क्या है? और क्यों है? इस सवाल के उत्तर को खोजने का यह लोकप्रिय नज़रिया बच्चे को सीखने की दुनिया के संस्थागत ढाँचों, जैसे — विद्यालय, महाविद्यालय और विश्वविद्यालय में ढकेलता है। विद्यालय अभिभावकों में इस भ्रम को बनाए रखते हैं कि यह संस्थागत हस्तक्षेप अबोध बालक को सुबोध नागरिक बनाएगा। यहाँ पर ध्यान देने योग्य बात है कि दोनों ही अवधारणाएँ — अबोध बालक और सुबोध नागरिक — मिथक हैं और ऐसे समाज की देन हैं जो ज्ञान और प्रकारांतर से जीवन को उपयोगितावादी बना देती हैं (यंग, 2007)। वस्तुतः जिस बच्चे को अबोध माना जाता है, उसमें स्वाभाविक जिज्ञासा, कुछ करने की इच्छा, अपने परिवेश के प्रति जागरूकता होती है। वह इस मायने में सुबोध नहीं होता कि उसे व्यवहार और अंतःक्रिया के सामाजिक मानक की समझ है। उसे 'सुबोध नागरिक' बनने

**सहायक प्राध्यापक*, शिक्षा विभाग, महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गाँधी हिल्स, वर्धा, महाराष्ट्र – 442001

और बनाने की चाह तथा इसके लिए विद्यालय रूपी कारखानों में हो रहे निर्माण ने जीवन में जड़ता भर दी है। विडम्बना है कि इस जड़ता को तथाकथित सफलता का आघूर्ण बताया जा रहा है, जो जीवन की नैसर्गिक यात्रा को त्वरित कर उसके प्रवाह को विच्छिन्न कर रहा है। यह व्यक्ति को उसकी जड़ों से काटकर केवल पत्तों को सींच रहा है। यह उत्साही किंतु प्रतिस्पर्धी और बाज़ारोन्मुख मस्तिष्क की रचना करने में व्यस्त है। विचारणीय प्रश्न है कि आखिर सीखने में यह यांत्रिकता और जड़ता क्यों है?

सीखना एक स्वाभाविक और नैसर्गिक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में कृत्रिमता के जो पक्ष आप देखते हैं, काफी हद तक उसका प्रवेश विद्यालय के द्वारा ही होता है (कुमार, 2004)। इस कृत्रिमता का प्रथम लक्षण विद्यार्थियों को सूचनाओं के जाल में फँसाना है। विद्यार्थी भी अपना अधिकतम समय इस जाल से सूचनाओं को छाँटने, उन्हें याददाश्त के बैंक में जमा करने और इस जमा पूँजी के निवेश करने के तरीकों को सीखने में लगा देते हैं। यदि हम खुद के और अपने बच्चों के विद्यालयी अनुभवों पर विचार करें तो पाएँगे कि पिछली आधी शताब्दी में केवल सूचना के स्रोत और उस स्रोत तक शिक्षार्थी को पहुँचाने के तरीके बदले हैं। हम किताबों की संस्कृति से अब गूगल संस्कृति (इंटरनेट) तक पहुँच चुके हैं, लेकिन इस यात्रा में हमारी चेतना ने अपना चोला नहीं बदला है, वह अभी भी विकास की भौतिकवादी सीढ़ियों को पार करने को उतावली है। ऐसी सीढ़ी जिसके हर कदम पर केवल 'मैं' है, जो 'दूसरे' के होने से विचलित हो जाता है और भागकर सबसे पहले उस मंज़िल को हासिल कर लेना चाहता है, जो मृगमरीचिका की तरह किसी को भी आज तक प्राप्त नहीं हुई। इस दौड़ ने समाज और विद्यालय के बीच एक दीवार खड़ी कर दी है, जहाँ विद्यालय का दायित्व बन गया है कि वह न केवल हमें समाज के दैनिक सरोकारों में उलझने से बचाए, बल्कि उपलब्धि की 'अंधी दौड़' का विजेता बनने की 'ट्रेनिंग' भी दे।

विद्यालय की रचना जिन तत्वों से हुई है, वे सभी समाज और विद्यालय के बीच की दीवार को मज़बूत करने का कार्य करते हैं। विद्यालय में प्रवेश के साथ ही हर व्यक्ति या तो विद्यार्थी बन जाता है या शिक्षक। विद्यालय के ये दोनों भागीदार विद्यालय आने से पूर्व अपने रोज़मर्रा के अनुभवों की पोटली को विद्यालय और समाज के बीच की दीवार पर टाँग देते हैं। ये दोनों भागीदार विद्यालयी जीवन के इतने ज़बर्दस्त अभ्यस्त बन चुके होते हैं कि वे बिना समय गवाए क्रमशः सीखने और सिखाने में जुट जाते हैं। चूँकि उनके अनुभवों की पोटली तो विद्यालय के बाहर है तो अब उन्हें किताबों की नई दुनिया उपलब्ध कराई जाती है जो पाठ्यचर्या के पन्नों में बंधी हुई है और काले छपे अक्षरों को पढ़ने से खुलती है। इस नई दुनिया को अपनाने की प्रक्रिया में लगा विद्यार्थी, खुद को अपनी दुनिया से काट लेता है और अपना सब कुछ किताबों में बसने वाले ज्ञान को जानने और समझने में झोंक देता है। यदि विद्यालय को ऐसा आभास होता है कि विद्यार्थी स्वयं को अपनी दुनिया से काट नहीं पा रहा है तो वह अनुशासन की कैंची से कटाई-छँटाई करके विद्यार्थी को विद्यालय की दुनिया में फ़िट कर देता है। किताबों में डूबा बचपन किताबों से पार भी

नहीं जाना चाहता, क्योंकि उन्हें मालूम है कि उनकी सफलता का तिलिस्मी खज़ाना किताबों की चाबी से ही खुलता है (क्लार्क, 2004)। इस प्रकार से विद्यालय, समाज से अपने आपको अलग करते हुए मानकर चलता है कि 'हम जो जानते हैं वही पढ़ाते हैं और हम श्रेष्ठ ही जानते हैं। वस्तुतः होता इसका उलटा है — 'हम जो होते हैं, वही करते हैं'। 'होने' और 'करने' की इन प्रक्रियाओं के बीच विद्यालय में 'पढ़ना' और 'पढ़ाना' एक बहुत ही छोटा हिस्सा है, लेकिन हम सभी केवल इसी छोटे हिस्से को माँजने और चमकाने में लगे हैं। विद्यालय के बाहर की वह दुनिया, जो हमारे जीवन का प्राण है, छूटती जा रही है, जिसका नतीजा है कि हमारी पहचान की सारी रचनाएँ विद्यालय की उपलब्धियों के चारों ओर बुनी जा रही हैं जिसे हम ताउम्र ढोने को तत्पर हैं।

दुनिया का कोई भी विद्यालय बाल विरोधी नहीं होना चाहता है। लेकिन न मालूम क्यों कोई भी बच्चा विद्यालय में रहना नहीं चाहता है। कहीं ऐसा तो नहीं कि विद्यालय भी समाज की अपेक्षाओं के बोझ के तले दबे हैं! ये अपेक्षाएँ उत्कृष्टता के उन पैमानों का प्रतिफल हैं, जो हमारे 'अपने' नहीं हैं, बल्कि उनके हैं जिनके जैसा हम अपने बच्चों को बनाना चाहते हैं। ज़्यादातर हम अपने बच्चों को वैसा ही बनाना चाहते हैं जो हम स्वयं नहीं बन पाए। 'होने' और 'बनने' की इस दुविधा में बच्चा भी फँसा हुआ है और इस दुविधा को दूर करने में विद्यालय भी जुटा हुआ है। इसके लिए विद्यालय ने एक पूरे तंत्र का विकास कर लिया है, जहाँ प्रवेश, परीक्षा और प्रमाण-पत्र का सतत चक्र चल रहा है। ये तीनों ही गेट पास अपने क्रिया-करण, रीतियों व नीतियों के द्वारा विद्यालय को समाज से तो अलग कर रहे हैं, साथ-ही-साथ इस चक्र से गुज़रने वाले विद्यार्थियों को उनके लोक से भी अलग कर रहे हैं। इस तर्क का उदाहरण किसी भी विद्यालय के विज्ञापन में देखा जा सकता है। आजकल तो 'इण्टरनेशनल' विद्यालयों की बाढ़-सी आ गई है। ऐसे विद्यालय उन्हीं चीज़ों को महत्वपूर्ण बताते हैं जो विद्यार्थी के अपने परिवेश में नहीं हैं, यथा — विद्यालय का अंग्रेज़ी माध्यम में होना, वाहन का होना, ए.सी. का होना आदि। इस दृष्टि से विद्यालय की प्रतिष्ठा का मानदंड इस बात से तय होता है कि वह विद्यार्थी को उसके परिवेश से कितना दूर ले जाने की संभावना रखता है? बाज़ार ने समाज और विद्यालय के बीच की दीवार को और भी ऊँचा किया है। इसी बाज़ार की उपज 'इण्टरनेशनल' स्कूलों ने तो उन खिड़कियों को भी बंद कर दिया है जिनसे कभी-कभार समाज विद्यालय में और विद्यालय समाज को झाँक आया करता था। बाज़ार के प्रभाव में विद्यालयों ने अपने भागीदारों, शिक्षक और शिक्षार्थी को, ज्ञानमार्गी बना दिया है, लेकिन यहाँ ज्ञान, जिज्ञासा को बनाए रखने और सीखने की ललक जगाए रखने के लिए नहीं है, बल्कि वह तटस्थ, निरपेक्ष और सार्वभौमिक है। ज्ञान के 'अंतिम सत्य' के माध्यम से वे सभी सुविधाओं को इकट्ठा कर लेना चाहते हैं जो समाज में उनका आभामंडल बनाने में मदद करे। इस ज्ञान मार्ग द्वारा विद्यालय सरल कार्य को जटिल बना देता है (कुमार, 2004)। वह सरलता और स्वाभाविकता के बदले शब्द-जाल द्वारा एक माया की रचना करता है। माना कि बौद्धिक

चिंतन और उत्कर्ष के लिए ज्ञानानुशासन और शोध में जटिलता होनी चाहिए। लेकिन इस 'जटिलता' की भूमिका एक दुनिया को दूसरी दुनिया से अलग करने की नहीं है, बल्कि एक दृष्टि प्रदान करने की है जिससे आप अपनी दुनिया को जान सकें और दूसरे को उसकी दुनिया को जानने में सहयोग कर सकें। यह तभी सभंव है, जब शिक्षा और विद्यालय को अपेक्षाओं के बोझ से मुक्त किया जाए। ये अपेक्षाएँ जो बाज़ार के प्रभाव में समाज में उपजती हैं और जो समाज और विद्यालय के बीच की दीवार को मज़बूत करती हैं, इन्होंने शिक्षा के अर्थ और लक्ष्य को बदल दिया है।

शिक्षा से जुड़े सवालों पर विचार करते हुए प्रायः पहला प्रश्न होता है कि शिक्षा क्या है? इस सवाल का मुकम्मल उत्तर दे पाना मुश्किल काम है। अकसर हम कुछ शिक्षाशास्त्रियों के विचारों, शिक्षा के उद्देश्यों या शिक्षा की प्रासंगिकता के आधार पर ऐसे सवालों का उत्तर देते हैं। इस प्रश्न को एक भिन्न दृष्टि से संबोधित करते हैं — शिक्षा क्या 'नहीं' है? इस रास्ते पर बढ़ना एक क्रान्तिकारी और अराजकतावादी कदम हो सकता है। वैसे भी आजकल शिक्षा जगत में 'विद्यालय भंग करो' (इलिच, 1971) और 'विद्यालय मर चुके हैं' (राइमर, 1971) जैसे नारे चल पड़े हैं। इस दिशा में आगे बढ़ें तो पहला विचार आता है कि शिक्षा विद्यालय में दिया जाने वाला विषय ज्ञान, अनुशासन और प्रतियोगिता की अभिवृत्ति नहीं है। शिक्षा एक बड़े फलक की प्रक्रिया है जो जिज्ञासु बाल-मन और मस्तिष्क के विचार और कर्म को परिष्कृत करती है। यहाँ 'परिष्करण' महत्वपूर्ण शब्द है। इसे कुम्हार, माटी और मटके के उदाहरण से समझने की कोशिश करते हैं। कुम्हार, वे लोग हैं जो तय करते हैं कि किसे परिष्कृत मानेंगे और किसे अपरिष्कृत। ऐसे कुम्हार दोहरे लक्ष्य लेकर चलते हैं। पहला, जो चलन में है, उसमें फ़िट करने के लिए परिष्करण करते हैं। दूसरा, जो होना चाहिए, उसकी परिकल्पना के अनुसार नई रचना करते हैं। इस तरह के कुम्हार (अध्यापक और समुदाय के सदस्य) द्वारा निर्मित मटके (विद्यार्थी) में नूतनता और मौलिकता की संभावना न्यूनतम होती जा रही है। नई रचना के बदले चलन को स्वीकारने और उसमें फ़िट करने की परिपाटी को प्रोत्साहित किया जा रहा है। अंकों के आधार पर प्रथम, द्वितीय और तृतीय श्रेणी में विभाजन और हर विद्यार्थी को इस विभाजन के अनुसार योग्य से अयोग्य के क्रम में व्यवस्थित करना, इसका उदाहरण मात्र है। ऐसी ही स्थिति में अभिभावक भी परीक्षा की तैयारी और सफलता को सब कुछ मान लेते हैं। अंततः शिक्षा अनुभवों की पुनर्रचना जैसे व्यापक उद्देश्यों के बदले प्राप्तांकों के उत्पाद पर समाप्त होती है। इस उत्पाद के आधार पर ही हम बच्चे के बारे में भविष्य कथन करते रहते हैं। इस चलन के पक्ष में शिक्षक और अभिभावकों की सहमति का एकमात्र तर्क होता है कि शिक्षा, समय और संदर्भ पर अवलंबित होती है। समय की माँग के प्रतिकूल जाकर हम अपने बच्चों के भविष्य को दांव पर नहीं लगा सकते हैं। यानी कि जो शिक्षा हमारे बच्चों को दी जा रही है, उसकी सीमाओं से हम परिचित हैं, लेकिन सुरक्षित भविष्य के आश्वासन का दबाव इन सीमाओं का विकल्प न

खोजने को मजबूर कर रहा है। जब समाज के आइने में सुरक्षित भविष्य और शिक्षा की परछाई देखते हैं तो ऐसा समाज नज़र आता है जो अति व्यक्तिवादी है, जो भौतिक पदार्थों के संग्रह में व्यस्त है, जो कला और संगीत की सुविधा को दोयम दर्जे पर रखता है, जो हर रोज़ 'टारगेट' के साथ उठता और जगता है। इन परिस्थितियों में अकसर एक वैचारिक उद्वेलन पैदा होता है। यह उद्वेलन शिक्षा द्वारा ऐसा परिष्करण करना चाहता है कि मानव में मानवता रहे। मानवता की इस परिभाषा को एक अग्रलिखित उदाहरण द्वारा समझिए — मेरी एक विद्यार्थी ने बताया कि उनके पति अकसर अपने बेटे से सवाल पूछते हैं कि क्या तुम चरवाहा बनोगे? क्या तुम किसान बनोगे? क्या तुम गाँव में रहोगे? हर सवाल के बाद वे इन भूमिकाओं के महत्व पर प्रकाश डालते हैं। इस तरह वे वर्तमान शिक्षा की अति-भौतिकतावादी और आर्थिक दृष्टि की आलोचना करते हैं। वे चाहते हैं कि उनका बच्चा प्राथमिक आर्थिक क्रियाओं, जैसे — खेती आदि के महत्व को भी समझे। निश्चित रूप से वे परिकल्पित करते हैं कि शिक्षा के माध्यम से पढ़े-लिखे और बिना पढ़े-लिखे के बीच का भेद समाप्त होना चाहिए। इस तरह के भेद पैदा करने वाली व्यवस्था न तो शिक्षा हो सकती है और न ही मानव-निर्माण कर सकती है।

समाज के यथार्थ और आदर्श के बीच शिक्षा को एक फंदा बना दिया गया है जो देश, राजनीति और अर्थव्यवस्था जैसी इकाइयों से बच्चे को जोड़ने का कार्य करती है। यह फंदा उत्पादक हो सकता है, लेकिन है तो बाध्यकारी। इस बंधन की जकड़ ने दो परस्पर विरोधाभासी कार्य किए हैं। पहला, हमारी देखने की दृष्टि को सीमित कर दिया है और दूसरा इस सीमित दृष्टि को 'ज्ञानवान' होने के रूप में स्थापित कर दिया है। ऐसे सीमित दृष्टि वाले ज्ञानवान का ठीक-ठीक भावानुवाद 'कूप-मण्डूप' होना है। इसका सृजनात्मकता और स्वतंत्र चिंतन से कोई लेना-देना नहीं है। ऐसी शिक्षा एक उपयोगी पदार्थ या वस्तु मात्र है जो केवल व्यक्ति की उपयोगिता और उसके मूल्य को बढ़ाती है, लेकिन मानव-निर्माण करने में असफल रहती है। शिक्षा मन, वचन और कर्म में 'स्वराज' लाती है। वह इतनी आत्मशक्ति देती है कि आप अच्छे-बुरे, करणीय-अकरणीय, पथ-विपथ का भेद कर सकें और बिना परिणाम की चिंता किए सच्चाई के साथ खड़े हो सकें। अंग्रेज़ी में एक शब्द है — 'कम्प्रोमाइज़'। शिक्षा 'कम्प्रोमाइज़' का प्रतिकार है — शिक्षा वह है, जो आपको इतना सबल प्रदान करे कि आप क्षणिक और तात्कालिक लाभ से ऊपर उठकर विचार कर पाने की स्थिति में हों; शिक्षा आपको धर्म, जाति, पंथ और राष्ट्र की भीरूता से मुक्त करे; शिक्षा आपके व्यवहार में विनम्रता का प्रवाह करे; शिक्षा आपकी अकड़ और ठसक को तिरोहित करे; शिक्षा आपको दुनियादारी के भय से निर्भय करे तथा शिक्षा वह है कि हमारे प्रत्येक विद्यार्थी अच्छे मानव बनें। अतः ऐसी शिक्षा के चरितार्थ होने पर ही यथास्थिति को बदलने का हौसला रखने वाले जिज्ञासु, सक्रिय और स्वतंत्रचेत्ता व्यक्तित्व का निर्माण हो पाएगा।

संदर्भ

इलिच, आई. 1971. *डिस्कूलिंग सोसाइटी*. हार्पर एंड रॉ, न्यू यॉर्क.

कुमार, के. 2004. *वॉट इज़ वोर्थ टीचिंग*. ओरियंट ब्लॅकस्वान, नयी दिल्ली.

क्लार्क, पी. 2001. *टीचिंग एंड लर्निंग — दि कल्चर ऑफ़ पेडागोजी*. सेज, नयी दिल्ली.

बीस्ता, जी. 2014. वॉट इज़ एजुकेशन फॉर. *यूरोपियन जर्नल ऑफ़ एजुकेशन*. 50(1). पृ. 75–88.

यंग, एम. 2007. वॉट आर स्कूल फ़ॉर एजुकाको सोसाईडाडे एंड कल्चर्स. 32. पृ. 145–155.

राइमर, ई. 1971. *स्कूल इज़ डेड — अल्टर्नेटिव्स इन एजुकेशन.* पेंग्विन, न्यू यॉर्क.